२१

शतरंज के खिलाड़ी

प्रेमचन्द

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे -बड़े, ग़रीब-अमीर सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही में मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक अवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धंधों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे।

सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को ख़बर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते, तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार-शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं। (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी ख़ाली नहीं है।) इसलिए अगर मिरज़ा सज्जादअली और मीर रौशनअली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी ? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिंता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आख़िर और करते ही क्या ?

प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और लड़ाई के दाँवपेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम ! घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से

जवाब मिलता — "चलो, आते हैं, दस्तरख़्वान बिछाओ।" यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे।

मिरज़ा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिए उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं। मगर यह बात न थी कि मिरज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से ख़ुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, मुहल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे — "बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। ख़ुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन-दुनिया किसी के काम का नहीं रहता, न घर का, न घाट का। बुरा रोग है।" यहाँ तक कि मिरज़ा की बेगम साहिबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिरज़ाजी घर में आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना .गुस्सा उतारती थीं — "क्या पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जाएँ। खाने की फ़ुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खाएँ चाहे कुत्ते को खिलाएँ।" पर दूबदू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिरज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इलज़ाम मीर साहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा — "जाकर मिरज़ा साहब को बुला ला। किसी हकीम के यहाँ से दवा लाएँ। दौड़, जल्दी कर।" लौंडी गयी, तो मिरज़ाजी ने कहा — "चल, अभी आते हैं।"

बेगम साहबा का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा सुर्ख़ हो गया। लौंडी से कहा — "जाकर कह, अभी चलिए, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जाएँगी।"

मिरज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे, दो ही किश्तों में मीर साहब की मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले — "क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?"

मीर — "अरे, तो जाकर सुन ही आइए न। औरतें नाज़ुक मिज़ाज होती हैं।"

मिरज़ा — "जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ? दो किश्तों में आपको मात होती है।"

मीर — "जनाब, इस भरोसे न रहिएगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें और मात हो जाए। पर जाइए, सुन आइए। क्यों ख़ामख़्वाह उनका दिल दुखाइएगा ?"

मिरज़ा — "इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।"

मीर — "मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइए।"

मिरज़ा — "अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द ख़ाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।"

मीर — "कुछ भी हो, उनकी ख़ातिर तो करनी ही पड़ेगी।"

मिरज़ा — "अच्छा, एक चाल और चल लूँ।"

मीर — "हरगिज़ नहीं, जब तक आप सुन नहीं आएँगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।"

मिरज़ा साहब मजबूर होकर अन्दर गये, तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ बदल कर, लेकिन कराहते हुए कहा — "तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है। चाहे कोई मर ही जाए, पर उठने का नाम नहीं लेते ! नौज, कोई तुम-जैसा आदमी हो !"

मिरज़ा — "क्या कहूँ, मीर साहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।"

बेगम — "क्या जैसे वे ख़ुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं ? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं या सबका सफ़ाया कर डाला ?"

मिरज़ा — "बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना पड़ता है।"

बेगम — "दुतकार क्यों नहीं देते ?"

मिरज़ा — "बराबर के आदमी हैं, उम्र में, दर्जे में मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।"

बेगम — "तो मैं ही दुतकारे देती हूँ। नाराज़ हो जाएँगे, हो जाएँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है ? रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी। हिरिया, जा बाहर से शतरंज उठा ला। मीर साहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइए।"

मिरज़ा — "हाँ-हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब न करना ! ज़लील करना चाहती हो क्या ? ठहर हिरिया, कहाँ जाती है ?"

बेगम — "जाने क्यों नहीं देते ? मेरा ही ख़ून पिए, जो उसे रोके । अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको, तो जानूँ ?"

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं । मिरज़ा बेचारे का रंग उड़ गया । बीबी की मिन्नतें करने लगे — "ख़ुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम है । मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाए ।" लेकिन बेगम ने एक न मानी । दीवानख़ाने के द्वार तक गयीं, पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गए । भीतर झाँका, संयोग से कमरा ख़ाली था । मीर साहब ने दो-एक मुहरे इधर-उधर कर दिये थे और अपनी सफ़ाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे । फिर क्या था, बेगम ने अन्दर पहुँचकर बाज़ी उलट दी, मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेंक दिये, कुछ बाहर; और किवाड़ अन्दर से बन्द करके कुंडी लगा दी । मीर साहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी । फिर दरवाज़ा बन्द हुआ, तो समझ गए, बेगम साहबा बिगड़ गई। चुपके से घर की राह ली ।

मिरज़ा ने कहा — "तुमने ग़ज़ब किया ।"

बेगम — "अब मीर साहब इधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी । इतनी लौ ख़ुदा से लगाते, तो वली हो जाते ! आप तो शतरंज खेलें और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ । जाते हो हकीम साहब के यहाँ कि अब भी ताम्मुल है ?"

मिरज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीर साहब के घर पहुँचे और सारा वृत्तान्त कहा । मीर साहब बोले — "मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया । फ़ौरन भागा । बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं । मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रखा है, यह मुनासिब नहीं । उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं । घर का इन्तज़ाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार ?"

मिरज़ा — "ख़ैर, यह तो बताइए, अब कहाँ जमाव होगा ?"

मीर — "इसका क्या ग़म है ! इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है । बस, यहीं जमें ।"

मिरज़ा — "लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा ? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वे इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िन्दा ही न छोड़ेंगी ।"

मीर — "अजी, बकने भी दीजिए, दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जाएँगी। हाँ, आप इतना कीजिए कि आज से ज़रा तन जाइये।"

(२)

मीर साहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीर साहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करती थीं, बल्कि कभी-कभी मीर साहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीर साहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यन्त विनयशील और गम्भीर है। लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी और मीर साहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन-भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आए, कोई जाए, उनसे कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और हुक्का तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते — "हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई। दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गए। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे तो शाम कर दी। घड़ी आध घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुज़ूर के ग़ुलाम हैं। जो हुक्म होगा, बजा ही लाएँगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई न कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे मुहल्ले-के-मुहल्ले तबाह होते देखे गए हैं। सारे मुहल्ले में यही चरचा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें ?" इस पर बेगम साहबा कहतीं — "मैं तो ख़ुद इसको पसन्द नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, क्या किया जाए।"

मुहल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे — "अब ख़ैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का ख़ुदा ही हाफ़िज़ है। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।"

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची आती थी और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँग्रेज़ कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था, पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीर साहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गये। नए-नए नक्शे हल किए जाते; नए-नए क़िले बनाए जाते; नित्य नई व्यूह-रचना होती; कभी-कभी खेलते-खेलते झौड़ हो जाती; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती; मिरज़ाजी रूठकर अपने घर चले जाते। मीर साहब अपने घर में जा बैठते। पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शान्त हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानख़ाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे हुए शतरंज की दलदल में ग़ोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीर साहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीर साहब के होश उड़ गए। यह क्या बला सिर पर आयी। यह तलबी किस लिए। नौकरों से बोले — "कह दो, घर में नहीं हैं।"

सवार — "घर में नहीं, तो कहाँ हैं?"

नौकर — "यह मैं नहीं जानता। क्या काम है?"

सवार — "काम तुझे क्या बताऊँगा? हुज़ूर में तलबी है। शायद फ़ौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गए हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जाएगा!"

नौकर — "अच्छा, तो जाइए, कह दिया जाएगा।"

सवार — "कहने की बात नहीं है। मैं कल ख़ुद आऊँगा, साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।"

सवार चला गया। मीर साहब की आत्मा काँप उठी। मिरज़ाजी से बोले — "कहिये जनाब, अब क्या होगा ?"

मिरज़ा — "बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी तलबी भी न हो।"

मीर — "कमबख़्त कल फिर आने को कह गया है।"

मिरज़ा — "आफ़त है, और क्या। कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।"

मीर — "बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पार कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी ? हज़रत आकर आप लौट जाएँगे।"

मिरज़ा — "वल्लाह, आपको ख़ूब सूझी ! इसके सिवाय और कोई तदबीर ही नहीं है।"

इधर मीर साहब की बेगम उस सवार से कह रही थी — "तुमने ख़ूब धता बताया।"

उसने जवाब दिया — "ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक़्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूलकर भी घर न रहेंगे।"

(३)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बग़ल में एक छोटी-सी दरी दबाए, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती पार की एक पुरानी मसजिद में चले जाते, जिसे शायद नवाब आसफ़उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। किश्त, शह आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती, तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दुकान पर जाकर खाना खा आते और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख़्याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की

निगाह न पड़ जाए, जो बेगार में पकड़े जाएँ। हज़ारों रुपये सालाना की जागीर मुफ़्त ही हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खंडहर में बैठे हुए शतरंज खेल रहे थे। मीर साहब की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मिरज़ा उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। वह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीर साहब बोले — "अँग्रेज़ी फ़ौज आ रही है; ख़ुदा ख़ैर करे।"

मिरज़ा — "आने दीजिए, किश्त बचाइये। यह किश्त !"

मीर — "जरा देखना चाहिए, यहीं आड़ में खड़े हो जाएँ।"

मिरज़ा — "देख लीजिएगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त !"

मीर — "तोपख़ाना भी है ! कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे-कैसे जवान हैं। लाल-बन्दरों के-से मुँह ! सूरत देखकर ख़ौफ़ मालूम होता है।"

मिरज़ा — "जनाब, हीले न कीजिए। ये चकमे किसी और को दीजियेगा। यह किश्त !"

मीर — "आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आयी हुई है और आपको किश्त की सूझी है ! कुछ इसकी भी ख़बर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे ?"

मिरज़ा — "जब घर चलने का वक़्त आएगा, तो देखी जाएगी — यह किश्त ! बस, अब की शह में मात है।"

फ़ौज निकल गयी। दस बजे का समय था। फिर बाज़ी बिछ गई।

मिरज़ा बोले — "आज खाने की कैसे ठहरेगी ?"

मीर — "अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज़्यादा भूख मालूम होती है ?"

मिरज़ा — "जी नहीं। शहर में न जाने क्या हो रहा है।"

मीर — "शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुज़ूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।"

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गए। अब की मिरज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब

वाजिदअली शाह पकड़ लिए गए थे और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट। एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह ख़ून बहे बिना न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिरज़ा ने कहा — "हुज़ूर नवाब साहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।"

मीर — "होगा, यह लीजिए शह !"

मिरज़ा — "जनाब, ज़रा ठहरिये। इस वक़्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाब साहब इस वक़्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।"

मीर — "रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा ? यह किश्त।"

मिरज़ा — "किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।"

मीर — "हाँ, सो तो है ही — यह लो, फिर किश्त ! बस, अब की किश्त में मात है, बच नहीं सकते।"

मिरज़ा — "ख़ुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुःख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह !"

मीर — "पहले अपने बादशाह को तो बचाइए, फिर नवाब साहब का मातम कीजिएगा। यह किश्त और यह मात ! लाना हाथ !"

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गयी। उनके जाते ही मिरज़ा ने फिर से बाज़ी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा — "आइये, नवाब साहब के मातम में एक मरसिया कह डालें।" लेकिन मिरज़ा की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई। खंडहर में चमगादड़ों ने चीख़ना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो ख़ून के प्यासे

सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिरज़ाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके संभलकर खेलते थे, लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ-साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीर साहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गए हों। मिरज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकलता जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे — "जनाब, आप चाल बदला न कीजिये। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल दीजिये; यह आप मुहरे पर हाथ क्यों रखते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिये। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छुइये ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घंटे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज़्यादा लगे, उसकी मात समझी जाए। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिये।"

मीर साहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले — "मैंने चाल चली ही कब थी?"

मिरज़ा — "आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिए — उसी घर में!"

मीर — "उस घर में क्यों रखूँ? मैंने हाथ से मुहरा छोड़ा ही कब था?"

मिरज़ा — "मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे।"

मीर — "धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता।"

मिरज़ा — "तो इस बाज़ी में तो आपकी मात हो गई।"

मीर — "मुझे क्यों मात होने लगी?"

मिरज़ा — "तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिए, जहाँ पहले रखा था।"

मीर — "वहाँ क्यों रखूँ? नहीं रखता।"

मिरज़ा — "क्यों न रखिएगा? आपको रखना होगा।"

तक़रार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था, न वह। अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिरज़ा बोले — "किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती,

तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये, आप शतरंज क्या खेलियेगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नहीं हो जाता।"

मीर — "क्या ! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आ रहे हैं।"

मिरज़ा — "अजी, जाइए भी, ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं है।"

मीर — "क्यों अपने बुज़ुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो — वे ही बावरची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख़्वान पर खाना खाते चले आये हैं।"

मिरज़ा — "अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर।"

मीर — "ज़बान संभालिये, वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखायीं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला ?"

मिरज़ा — "आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइये। आज दो-दो हाथ हो जाएँ, इधर या उधर।"

मीर — "तो यहाँ तुमसे दबनेवाला है कौन ?"

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था; सभी तलवार, पेशक़ब्ज़, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी थे, पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था — बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें; पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आयीं। दोनों ज़ख़्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दोनों प्राणियों ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने-अपने सिंहासनों पर बैठे हुए मानो इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खंडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूलि-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं।